मधुबाला

बच्चन

ग्रन्थ-संख्या—१०१

प्रकाशक और विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस,
इलाहाबाद

इस पुस्तक के पहले तीन संस्करण सुषमा निकुंज, प्रयाग, से प्रकाशित हुए थे।

पहला संस्करण—जनवरी, १९३६
दूसरा संस्करण—नवम्बर, १९३८
तीसरा संस्करण—अक्टूबर, १९४०
चौथा संस्करण—फरवरी, १९४३

मूल्य १॥)

मुद्रक
पं० कृष्णाराम
लीडर प्रेस, इल

विज्ञापन

आज बच्चन की 'मधुबाला' का चौथा संस्करण प्रकाशित करते समय हम बड़े आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। जहाँ लोग कवि की नई रचनाओं की ओर उत्सुक रहते हैं वहाँ वे उसकी पुरानी रचनाओं को भी नहीं भूल सकते। कवि की पिछली रचनाओं के संस्करण के पश्चात् संस्करण जनता में खपते जाना इसका सबसे बड़ा सबूत है। उसकी रचनाओं में जीवन का वह तागा पिरोया हुआ है जो उनको एकता का रूप देता है। पाठक बच्चन की कोई रचना लेकर बैठ जाय, समाप्त करते ही उसे इस बात की उत्सुकता होगी कि इसके पूर्व कवि ने क्या लिखा था और फिर उसके पूर्व, इसी प्रकार इसके पश्चात् कवि ने क्या लिखा और फिर उसके पश्चात्। उसकी जिज्ञासा तभी समाप्त होगी जब वह कवि की समस्त रचनाओं से अपने को भिज्ञ कर लेगा।

'मधुशाला' के पश्चात् लिखित प्रस्तुत संग्रह के नाटकीय गीतों में 'मधुबाला' और 'मधुपायी' ही नहीं 'प्याला', 'हाला' और 'सुराही' आदि भी सजीव होकर अपना अपना गीत गाने लगे हैं। कवि को 'मधुशाला' का गुणगान करने की आवश्यकता नहीं रही, वह स्वयं उन्मत्त होकर आत्म-गान करने लगी है। जिस समय यह गीत लिखे गए थे उस समय 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' के रूपक हिंदी में नए ही थे, फिर भी कवि ने उन्हें अपने कितने भावों, विचारों और कल्पनाओं का संगीतात्मक और कवित्व-पूर्ण केंद्र बना दिया है इसे आप गीतों को पढ़कर स्वयं देख सकेंगे।

यह संस्करण पिछले संस्करण का पुनर्मुद्रण मात्र है। केवल भी
मुख पृष्ठ पर 'मधुवर्षिणि, मधु बरसाती चल' वाला पद नया जोड़ा ग
है। रचना 'मधुबाला'-काल की ही है और सम्भवतः बढ़ाई जाने
थी, पर इतनी ही रह गई है। जहाँ उसका उपयोग किया गया
आशा है पाठक उसकी उपयुक्तता देख सकेंगे।

मूल्य में थोड़ी सी वृद्धि करने को हमें बाध्य होना पड़ा है। का
है काग़ज और छपाई का बढ़ता हुआ दाम और दर। लेकिन हमें
विश्वास है कि इस स्वल्प मूल्य-वृद्धि से बच्चन की रचनाओं की लो
प्रियता में कमी नहीं आएगी। सुरुचि का ध्यान रखते हुए संस्क
की सादगी, हमें आशा है, पाठकों को पसन्द आएगी।

—**प्रकाशक**

मधुबाला

मधुबाले,

उस दिन मेरी और अपनी अश्रु-धारा के संगम पर तूने मुझे विश्वास दिलाया था कि/तुझे सूनी, अँधेरी और भयावनी मधुशाला से मेरी आर्त्त पुकार सुन पड़ी थी और तू ही मधु को सागर-तट से लौटा लाई थी, जहाँ वह मुझसे ऊब कर पुनः अपने को सिंधु-तरंगों में विलीन कर देने के लिए तुझे साथ लेकर चला गया था।

मेरी पुकार में भी इतनी शक्ति है—इसी विश्वास से जी सका था। यद्यपि अब जीवन अभिशाप ही है, तो भी अपने जीवन से संबद्ध चिर-सरल मूर्तियों का ध्यान कर कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में अपनी यह कृति दृगों के तरल, नीरव, नम्र आशीर्वाद के साथ तुझे समर्पित करता हूँ। मनाता हूँ, विश्व के जीवन में मधु का और तेरा सदा स्थान रहे !

२२ दिसंबर, १९३५

चिर-कृतज्ञ
'मैं'

सूची

प्रलाप

उषा प्रति प्रभात में नई साड़ी पहनकर प्राची के प्रांगण में पदार्पण करती है। उसके सस्मित नयनों में रहती है आशा और विश्वास की आभा; आज तो मेरा परिधान संभवतः अवश्य ही पसंद किया जायगा—इसी विचार की छाया-सी। परंतु, क्षण-भर में उसे देखकर कोई जैसे कह देता है, नहीं, यह मुझे पसंद नहीं, कोई दूसरी साड़ी पहनकर आ। और, उषा लौट जाती है, दूसरे दिन एक नूतन पट धारण कर उपस्थित होने की तैयारी करने !

मार्तंड उदय होता है अपने प्रकाश का भंडार लिए। अपने अगणित करों से दिन-भर अवनि और अंबर को ज्योतिर्मय बनाने का अविरत प्रयत्न करता है और संध्या को कोई प्राची के क्षितिज से बोल उठता है, आज भी पृथ्वी पर न जाने कितने स्थानों पर अंधकार ही छाया रह गया। और, सूर्य चला जाता है लज्जा-रक्त मुख लेकर, दूसरे दिन और भी अधिक लगन के साथ वसुंधरा का अंचल प्रकाश से भरने की तैयारी करने !

यामिनी आती है। सारी रात गगन-अट्टालिका को दीप-माला से सुसज्जित करती रहती है। एक-एक दीप यही कहता-सा रहता है कि आज की सजावट तो अवश्य ही प्रियतम को लुभा लेगी। परंतु, प्रभात में प्राची के वातायन से कोई मुसकरा कर कह जाता है, न, आज का श्रृंगार भी मेरे मन-का न हो सका। अश्रु-विंदुओं से भू के तृण-तृण को

भिगोकर यामिनी विदा लेती है, दूसरी रात्रि में गगन-प्रासाद के दीपों को किसी अन्य प्रकार सजाने की आयोजना करने !

पृथिवी अपने अजिर में वसंत मनाती है। तरु-तरु में नवपल्लव लगाती है, लता-लता को कुसुमित करती है। ग्रीष्म आता है, डाल-डाल फलों से लद जाती है। वर्षा आती है और पृथ्वी की हरित राशि को धोकर मरकत की छवि दे जाती है। शरद की चाँदनी में प्रति पल्लव चमक-चमककर कहता है, क्या पृथ्वी की इस विभा पर भी प्रियतम न रीझेगा ? हेमंत का समीर मंद हास करता हुआ कह जाता है, इस वसंत में भी न जाने कितने तरु पत्रहीन ही रह गए। इस ग्रीष्म में भी न जाने कितने फल पकने के पूर्व ही गिर गए। इस वर्षा में भी न जाने कितनी भूमि प्यासी ही रह गई और इस शरद में भी न जाने कितने दग्ध स्थल शीतलता से वंचित ही रहे। शिशिर पत्ता-पत्ता तोड़कर गिरा देता है और पृथ्वी फिर-से ऋतुराज का नव स्वप्न देखने लगती है !

और, इसी प्रकार मानव भी शीघ्रता के साथ अबोध बचपन की धूलि-क्रीड़ा, सरल बाल-काल की चपलता और उग्र यौवन की उच्छृंखलताओं से अपने जीवन को विकसित करता हुआ शांत बृद्धावस्था की गंभीरता को प्राप्त होता है और सांसारिक अनुभवों के भार से लदी हुई अपनी पलकों को सहज ही मूँद कर पूछता है, 'क्या मेरा यथेष्ट विकास हो चुका ?' और, उसके हृदय में ही बैठा हुआ कोई अपने नीरव स्वर में कह देता है, 'अभी कहाँ !' इसे सुनते ही उसका शरीर फिर-से उन्हीं धूलि-कणों में खेलने लगता है, जहाँ से उसने अपना जीवन प्रारंभ किया था !

प्रति पल परिवर्तन, प्रति प्रहर परिवर्तन, प्रति दिवस परिवर्तन, प्रति मास परिवर्तन और प्रति वर्ष और प्रति युग और सदा परिवर्तन !

एक दिन उसे भी बतलाया गया था कि परिवर्तन जीवन का चिह्न है। वह इतना ही जानकर संतुष्ट न हुआ। उसने पूछा, 'परिवर्तन जीवन का चिह्न क्यों है ?' उत्तर मिला, 'परिवर्तन जीवन का चिह्न इसलिए है कि जीवन अपूर्ण है। जो पूर्ण है उसे परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। समस्त संसार विविध परिवर्तनों में होता हुआ पूर्णता की ओर जा रहा है।'

मनुष्य के कानों में इसके बहुत पूर्व कि वह उनको समझ सके, उनकी परीक्षा कर सके और उनका अनुभव कर सके अनेकानेक बातों की भनक डाल दी जाती है। मानवता उन्हें हृदयंगम कर चुकी, उनकी जाँच-पड़ताल कर चुकी और उनसे पूर्ण परिचित हो चुकी। वह अपनी अज्ञान संतान को अपने चिर-प्रयोग, चिर-प्रयत्न और चिर-साधना से प्राप्त संपत्ति प्रदान करने के लिए सदा उत्सुक रहती है। छोटा-सा उदाहरण है। मा बच्चे से कहती है, 'आग मत छुओ, उँगलियां जल जायँगी।' संसार के अगणित बच्चे माँ के इस कथन पर विश्वास कर आग से बच जाते हैं। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जो बिना आग से अपनी उँगली जलाए यह नहीं सीखते—नहीं सीखना चाहते। वह ऐसा ही बच्चा रहा होगा। प्रश्न यह नहीं है कि कौन बच्चा अच्छा है और कौन बुरा; यद्यपि, यदि उसकी मा से पूछा जाय तो वह उसके-जैसे बच्चे को बुरा ही कहेगी।

उसने न माना कि जीवन अपूर्ण है। वह विशुद्ध हृदय से यह विश्वास लेकर जीवन-पथ पर बढ़ा कि जीवन पूर्ण है। इस विश्वास के

साथ वह कितनी दूर जा सकता था। कितनी पीड़ाओं को सहकर उसने सीखा कि कोमल कुसुमों की डाल काँटों से भरी है और शीतल चंदन के वृक्ष में विषधर सर्प लिपटे हैं। कितने आँसू बहाकर उसने सीखा कि प्रणय के अंदर संघर्ष छिपा है तथा त्याग के पीछे स्वार्थ बैठा है। कितनी आहें भरकर उसने सीखा कि सत्य, शिव और सुंदर इस विश्व में एक दूसरे से कितनी दूर हैं और वह कितना आश्चर्य-चकित हुआ यह देखकर कि इस संसार में पाप और पुण्य का ही विरोध नहीं! इतना ही होता तो पुण्य कब का पाप के ऊपर विजयी हो गया होता। यहाँ पुण्य का पुण्य से विरोध है। न्याय, न्याय का विद्रोह कर रहा है और सत्य और सत्य में युद्ध हो रहा है, संग्राम हो रहा है—भीषण—अति भीषण!

जल गई उँगलियाँ, जल गया शरीर और जल गया हृदय। जान लिया उसने कि जग और जीवन अपूर्ण हैं। पर उसने इस अपूर्णता के सामने शीश न झुकाया। मन में यौवन था, तन में यौवन था, रोम-रोम में यौवन था! जलते हुए हृदय की ज्वालाओं से भी विश्व के अंधकार में यदि कोई मार्ग दिखाई पड़े तो वह उसकी ओर पाँव बढ़ाने को तैयार था!

उसके दग्ध हृदय के प्रकाश में सोने की मधुशाला चमक उठी, उसने मधु-घट से प्यालों में गिरती मदिरा को 'कल्-कल्, छल्-छल्' सुनी, उसने मधु वितरण करनेवाली मधुबाला के पग-पायलों की 'रुन-झुन, रुन-झुन' सुनी। उसके चारों ओर मधु-गंध गमक उठी और पीनेवालों की चहक गुंजित हुई। उसने अपने चारों ओर कल्पना का विस्तृत संसार बसा लिया। सुषमा ने अनेक मधुबालाओं के रूप में मूर्तिमान होकर उसे घेर लिया। उसके हाथों में जो प्याला आया उस-

पर न जाने कितने मरकत-पात्र निछावर हो सकते थे। उसकी मदिरा माणिक-राशि की आभा को भी लज्जित करती थी। उसकी अमूर्त सुगंध की तुलना किससे की जाय। सारा दृश्य था अनुपम, अद्वितीय, अलौकिक ! वह उन्मत्त हो उठा। गान करने लगा—मैंने अपने स्वप्नों से अपने अपूर्ण संसार को पूर्ण कर लिया !

हृदय में कोई कह-कह उठता, जिसका स्वप्न इतना उन्मादक है उसकी सत्ता कितनी उन्मादिनी होगी ! पर वह आगे न बढ़ता था। दूर के न जाने कितने स्वप्न निकट पहुँचने पर मृग-जल के समान अंतर्धान हो चुके थे। वह अपने को स्वप्न में, भ्रम में रखकर भी अपने मन के संतोष का भूखा था। उसने कहा था, 'साक़ी, मेरे पास न आना।' वह तो पीने के स्वप्न से ही तृप्त था, वह तो 'प्यासा ही' रह कर 'मस्त' था। वह जानता था कि उसके स्वप्न संसार की वास्तविकता के साथ सहयोग न कर सकेंगे। इसलिए पाने के अरमान को ही उसने प्राप्ति-सुख समझ रक्खा था। कहता था, 'पा जाता तब, हाय, न इतनी प्यारी लगती मधुशाला' !

नियति का विधान कुछ और ही था। उसने अपने मन पर संयम रक्खा, पर मधुबाला न रख सकी। आगई उसके पास अपने हाड़-माँस का शरीर लिए, मिट्टी का प्याला लिए और उसमें मदिरा नामधारी द्रव लिए !

हा, हंत ! हृदय पर वज्राघात हुआ ! वह स्वप्न और यह सत्य ! एक पल में सारी वसंत-श्री-शोभा-सुषमा पतझड़ के तरु-कंकालों में विलुप्त हो गई। सोने की अलका मिट्टी में मिल गई, स्वर्ग खँडहर मात्र रह गया, नंदन उजाड़ हो गया। उसका चिर-संचित स्वप्न भग्न हो

गया। उसके चिर-असंतुष्ट जीवन का अंतिम आश्रय भी उसे निरा
कर गया। उफ़, इतने बड़े संसार में मेरे संतोष के लिए एक भी वस्
नहीं !—वह चीख़ पड़ा।

मधुबाला ने उसको प्यार किया, उसके सिर पर हाथ फेरा, बोल
'देखो, यह मधु है। इसी के ध्यान में तुम इतने दिनों तक घुलते
हो। लो, इसे पान करो।'

उसने अपना मुँह फेर लिया।

मधुबाला फिर-फिर पात्र अधरों तक लाई। आँखों में आँसू भर-
कर उसने उसकी मनुहार की। उसके ऊपर अपने अंचल की छ
की, पर वह उस पात्र में केवल अपने अश्रु-विंदु ही गिरा सका।

एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीते।

वह सोचता—संभव है मेरा भ्रम हो। यदि वह स्वप्न नष्ट हो
तो संभव है यह भी स्वप्न हो। संभव है सत्य किसी दिन इन्हीं ज
स्वप्नों से निकल पड़े। संभव है सीपी के फट जाने पर मुक्ता के द
हों। वह प्रतिदिन मदिरालय जाता और प्रतिदिन अधरों के
रक्खी मदिरा की प्याली उसकी अश्रु-धार से भरकर उमड़ती। आ
वह दिन भी !

वह मदिरालय के सामने पहुँचा। अंधकार था। वह भीतर
गया। सन्नाटा था। खोज डाला उसने मदिरालय का कोना-क
कहाँ गया मधु ! कहाँ गई मधुबाला ! पागलों की भाँति उसने एक
खिड़की, एक-एक दरवाज़ा, एक एक पर्दा खोज डाला। पर वे क

उसे एक पत्र मिला, जिसपर लोहू से लिखा हुआ था, 'हम

योग्य नहीं हो सके, हम अपने को पुनः सागर की तरंगों में विलीन करने जा रहे हैं ! विदा !'

ज़मीन उसके पावों के तले से खिसक गई। यह नहीं हो सकता। केवल उपहास है। वह चिल्लाया, 'मधु रे ! मधुबाले !'

कोई नहीं बोला।

हः हः हः हः हः हा ! हः हः हः हः हः हा !

हँस पड़ी मदिरालय की दीवार की एक-एक ईंट। उस हास्य में कितनी भयंकरता थी, कितना व्यंग था !

उसने फिर पुकारा, 'मधु रे ! मधुबाले !'

कोई नहीं बोला।

बोलीं कौन, मदिरालय की दीवारें, मदिरालय के दरवाज़े, 'ओ कल्पना के पागल !—वे गए !,' 'ओ स्वप्नों के अभिमानी वे दूर गए !'—वे गए—वे गए—वे गए के स्वर से एक साथ ही जैसे सारा संसार कोलाहल कर उठा। उस समय उसके हृदय की दशा को न कोई जान सकता है, न कोई कह सकता है, न कोई समझ सकता है।

प्रतिपल अपने स्वप्न संसार के सामने सत्य संसार को असत्य समझनेवाला अपने सारे स्वप्नों को पल मात्र में भूल गया। चतुर्दिक अग्नि-ज्वाल-माला से घिरे हुए बच्चे के समान वह चीख पड़ा, मैं अपने मधु को चाहता हूँ, अपनी मधुबाला को चाहता हूँ, वे जैसे हैं, मैं उन्हें वैसे ही चाहता हूँ !..........पर उत्तर में उसे यही सुन पड़ा—वे गए, वे गए, वे गए ! चल पड़ा वह भी सागर-तट की ओर, सोचता—या तो उन्हें लौटाकर लाऊँगा या लौट कर नहीं आऊँगा !

मार्ग में लौटी आ रही थी मधुबाला, मधु को साथ लिए। लिपट पड़ा वह उनसे और विसुध हो गया !

रात कैसे बीती, उसे ज्ञात नहीं। सबेरे वह मधुबाला की गोद में था, उसके अधरों के नीचे मधु था। हृदय की भावाकुलता वह अपने सजल स्वरों में केवल यही कह-कहकर व्यक्त कर सकता था—मैंने कहा, मधु रे ! मधुबाले ! हाय रे, कोई नहीं बोला !..................

और मधुबाला उसके आँसुओं के साथ अपने आँसू एक करके उसे विश्वास दिलाती थी कि बोला कैसे नहीं, मैंने तुम्हारी आवाज़ सिंधु-तट पर सुनी थी और उसे सुनकर ही मैंने वहीं से कहा था कि मैं आ रही हूँ और मधु को लौटा ला रही थी।

सात दिन और सात रात वह अपनी आँखों से अविरत-अविरल अश्रु-धार बहाता रहा। प्रतिज्ञा जैसे कर ली थी कि इन आँखों से बहा दूँगा उन सारे स्वप्नों को, जिनके कारण वह वास्तविकता का मूल्य नहीं समझ सका था। प्यार करने लगा वह मधु को, मधुबाला को—उनके स्वप्निल नहीं वास्तविक रूप को। वे उस रूप में भी कितने प्रिय थे !

पर दुर्भाग्य ! वह वास्तविकता को कितने दिन प्यार कर सका उसके असंभव स्वप्न फिर लौट पड़े, उसके आँसुओं से और भी धुलकर निर्मल होकर, स्पष्ट होकर। उनकी तुलना में वास्तविकता कैसे ठह सकती ! मधु तो पृथ्वी पर ही उत्पन्न हुए अंगूरों का रस है। प्याल तो जड़ मृत्तिका का ही अन्य रूप है। मधुबाला तो इसी भूमि मिट्टी की देह धारण करनेवाली स्त्री है। संसार के लिए भले एक में सरसता दूसरे में मादकता और तीसरे में आकर्षण हो, उस असंभव स्वप्नों से विक्षित बना दिए गए व्यक्ति को तो मधु से

समय भी संतोष न होता, यदि उसमें सृष्टि की प्रथम उषा की लाली दी गई होती और उसे नंदन कानन के पारिजात-पुष्प-समूह की गंध से सुवासित कर दिया गया होता ! उसे मधु का प्याला उस समय भी संतुष्ट न कर सकता, यदि वह नभ-नील-नीलम से निर्मित होता और उस पर नक्षत्रों से भी अधिक द्युतिमान मणियाँ जड़ी हुई होतीं ! उसे मधुबाला उस समय भी अपनी ओर आकृष्ट न कर सकती, यदि वह मधु-कलश-विभूषित सिंधु-कन्या रंभा की प्रतिमूर्ति ही क्यों न होती—अपने उस काल की संपूर्ण अभिनव विभा के साथ, जब वह समुद्र फेन को फाड़कर सुंदरता, सुकुमारता और उन्मत्तता का संदेश देती हुई ऊपर उठी थी !

उसके प्रथम स्वप्न में सत्ता का विश्वास था। सत्ता की कल्पना कल्पना की सत्ता से कहीं अधिक वैभवपूर्ण थी। परंतु, आज वह जानता है कि उसके स्वप्नों का आदि और अंत उसके ही अंदर है। इस मिथ्या की मनोमुग्धकारी भूल-भुलैया में उसे क्यों डाल दिया गया है ? उसे वह प्यास क्यों दी गई है, जिसकी तृप्ति का साधन कहीं नहीं है और जिसका ध्येय उसे केवल प्यासा ही रखना है ? वह काल्पनिक नहीं होना चाहता, वह स्वप्नों का धनी नहीं होना चाहता, वह कवि नहीं होना चाहता। वह चाहता है कि उसके ये सपने उसका पिंड छोड़ दें, जिसमें वह जीवन की वास्तविकता से कुछ अनुराग बढ़ा सके, उनका कुछ मूल्य जान सके, उनका कुछ संमान कर सके और उनका कुछ स्वाद ले सके। वह सतत प्रयत्न कर इन स्वप्नों को दूर हटाता है, उनसे निकल भागने का प्रयत्न करता है, पर उनका ऐंद्र-जालिक बंधन उसे कहीं से भी ढीला होता नहीं प्रतीत होता। वह असमर्थ है, लाचार है, दुखी है, चिंतित है।

उसे जिस मदिरा की प्यास है, उसके अभाव में उसकी तृष्णा उसी के रक्त को पी रही है, उसकी त्वचा के छिद्र-छिद्र से अपने सूक्ष्म अधरों को लगाकर उसका शोषण कर रही है, उसे निःशेष कर रही है। उसका क्रंदन गान बन कर विश्व में गूँज रहा है। क्रंदन करने की उसे आवश्यकता है। क्रंदन न करे तो क्षण-भर भी जी नहीं सकता। जीवन उसके लिए आनंद नहीं, कर्तव्य है। यदि जीवन का कर्तव्य न होता तो वह मौन ग्रहण कर लेता और वह मौन उसे शीघ्र ही चिर-मौन की शरण में भेज देता।

दुखिया जीवन के एकांत पथ पर स्वच्छंदता से क्रंदन भी नहीं करने पाता। संसार बार-बार उसके मार्ग में आकर उससे पूछता है, 'क्यों जी, तुम पीते भी हो मदिरा?' उसे वह क्या उत्तर दे। समझ सकने की शक्ति हो तो समझ, उसके पास वह मदिरा है, जो उसे ही पीती है

संसार उससे पूछता है, दाँत निकालकर, सिर तिरछा करके 'हः हः तुमने कितनी पी है?' मूढ़ को प्रश्न करना भी नहीं आता नादान, उससे यह पूछ कि तुझे कितनी प्यास है, कितनी तृष्णा है तेरे उर में कितनी ज्वाला है, कितनी जलन है!

उदर की ही क्षुधा को क्षुधा समझनेवाला संसार गली-ग[illegible] कहता फिरता है, 'भूखे भजन न होहिं गोपाला।' झूठ। भूखे रह [illegible] ही भजन होता है। प्यासा ही गान कर सकता है। तृप्ति मौन [illegible] तृष्णा के ही मुख में जिह्वा, कंठ में स्वर और उर में श्वास है। [illegible] के कण-कण में सजल गान के स्रोत हैं। यदि इस बात क[illegible] समझ सकता है तो तू उसे भी समझ सकेगा।

उसका तो प्रत्येक स्वर उसके जीवन की प्रतिध्वनि है। उ[illegible]

जीवन कितना सूक्ष्म है, कितना विशाल है ! तू तो उसके 'बावन' अंगुल के भौतिक शरीर के जीवन से भी अनभिज्ञ है, अपरिचित है और वह अपने स्वप्नों के जीवन में अपने 'पग' ही नहीं, अपने कर, चक्षु, कर्ण, नासिका, रसना—सभी को विराट रूप देकर त्रिभुवन के ही नहीं, त्रिकाल के भी ओर छोर की माप कर आता है ! और, स्वप्नों का जीवन उसके लिए उतना ही सत्य है जितना भौतिक। संभवतः वह अपने स्वप्नों के जीवन को ही अपने जीवन का मुख्य भाग समझता है और भौतिक जीवन को गौण। देखते नहीं कि उसका एक हाथ उपवन में खिली चमेली का हिम-कण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तमोमय साम्राज्य में निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खींच रहा है ? देखते नहीं कि उसका एक कान निर्झरिणी की रागिनी श्रवण कर रहा और दूसरा कान इंद्र के अखाड़ों में खड़े हुए गंधर्व, किन्नर और अप्सराओं के आलाप का आनंद ले रहा है ? देखते नहीं कि उसकी एक आँख अतीत की दुर्गम सीमाओं का अतिक्रमण कर सृष्टि की प्रथम उषा की लाली से अपनी मदिरा की तुलना कर रही है और दूसरी आँख उस अंधकार को भी देख रही है, जिसके अंदर दिनकर की तम-हर किरणें भी किसी समय छिप जाएँगी ?

समझ सकेगा उसे कोई ? आज तक संसार ने एक भी कवि को नहीं समझा। उसकी कविता वह भले ही समझने का दावा करे।

संसार बहुत प्रसन्न हुआ तो कहता है, 'उसे काव्य-प्रतिभा का वरदान है।' यहाँ भी वह भूल करता है। कवित्व दैव का सबसे बड़ा दंड है। न जाने किस महान अपराध के लिए मानव को वह दिया

जाता है। वह दूसरे के संसार को ले नहीं सकता, अपने संसार को पा नहीं सकता। विधाता जिसको सब प्रकार वंचित करना चाहता है, उसे ही यह दंड देता है।

संसार में फिर भी इस अपराधी की इतनी पूछ क्यों है ?

मधुबाला

मधुवर्षिणि,

मधु बरसाती चल,
बरसाती चल,
बरसाती चल।

झंकृति हों मेरे कानों में,
चंचल, तेरे कर के कंकण,

कटि की किंकिणि,
पग के पायल—
कंचन पायल,
छन - छन पायल।

मधुवर्षिणि,

मधु बरसाती चल,
बरसाती चल,
बरसाती चल।

मधुबाला

(१)

मैं मधुबाला मधुशाला की!
मैं मधुशाला की मधुबाला!

मैं मधु-विक्रेता की प्यारी,
मधु के घट मुझपर बलिहारी,
प्यालों की मैं सुषमा सारी,

मेरा रुख देखा करती है
मधु-प्यासे नयनों की माला!
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(२)

इस नीले अंचल की छाया
में जग-ज्वाला का झुलसाया
आकर शीतल करता काया,
मधु-मरहम का मैं लेपन कर
अच्छा करती उर छाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(३)

मधु-घट ले जब करती नर्तन,
मेरे नूपुर की छूम-छनन
में लय होता जग का क्रंदन,
झूमा करता मानव-जीवन
का क्षण-क्षण बनकर मतवाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(४)

मैं इस आँगन की आकर्षण,
मधु से सिंचित मेरी चितवन,
मेरी वाणी में मधु के कण,
मद-मत्त बनाया मैं करती,
यश लूटा करती मधुशाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(५)

था एक समय, थी मधुशाला,
था मिट्टी का घट, था प्याला,
थी किंतु नहीं साक़ीबाला,
था बैठा ठाला विक्रेता
दे बंद कपाटों पर ताला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(६)

तब इस घर में था तम छाया,
था भय छाया, था भ्रम छाया,
था मातम छाया, ग़म छाया,
ऊषा का दीप लिए सिर पर
मैं आई करती उजियाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(७)

सोने की मधुशाला चमकी,
माणिक-द्युति से मदिरा दमकी,
मधु-गंध दिशाओं में गमकी,
चल पड़ा लिए कर में प्याला
प्रत्येक सुरा पीनेवाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(८)

थे मदिरा के मृत-मूक घड़े,
थे मूर्ति सदृश मधु-पात्र खड़े,
थे जड़वत् प्याले भूमि पड़े,
जादू के हाथों से छूकर
मैंने इनमें जीवन डाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(९)

मुझको छूकर मधु-घट छलके,
प्याले मधु पीने को ललके,
मालिक जागा मलकर पलकें,
अँगड़ाई लेकर उठ बैठी
चिर-सुप्त, विमूर्च्छित मधुशाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(१०)

प्यासे आए, मैंने आँका,
वातायन से मैंने झाँका,
पीनेवालों का दल बाँका
उत्कंठित स्वर से बोल उठा,
'कर दे पागल, भर दे प्याला !'
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(११)

खुल द्वार गए मदिरालय के,
नारे लगते मेरी जय के,
मिट चिह्न गए चिंता-भय के,
हर ओर मचा है शोर यही,
'ला-ला मदिरा, मदिरा ला-ला!'
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(१२)

हर एक तृप्ति का दास यहाँ,
पर एक बात है ख़ास यहाँ,
पीने से बढ़ती प्यास यहाँ,
सौभाग्य, मगर, मेरा देखो,
देने से बढ़ती है हाला!
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(१३)

चाहे जितनी मैं दूँ हाला,
चाहे जितना तू पी प्याला,
चाहे जितना बन मतवाला,
सुन, भेद बताती हूँ अंतिम—
यह शांत नहीं होगी ज्वाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(१४)

मधु कौन यहाँ पीने आता,
है किसका प्यालों से नाता,
जग देख मुझे है मद-माता,
जिसके चिर-तंद्रिल नयनों पर
तनती मैं स्वप्नों का जाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(१५)

यह स्वप्न-विनिर्मित मधुशाला,
यह स्वप्न-रचित मधु का प्याला,
स्वप्निल तृष्णा, स्वप्निल हाला,
स्वप्नों की दुनिया में भूला
फिरता मानव भोला-भाला!
मैं मधुशाला की मधुबाला!

मालिक-मधुशाला

(१)

मैं ही मधुशाला का मालिक,
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ !

मधु-पात्र, सुरा, साक़ी लाया,
प्याली बाँकी-बाँकी लाया,
मदिरालय की झाँकी लाया,

मधुपान करानेवाला हूँ !
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ !

(२)

आ देखो मेरी मधुशाला,
साक़ीबालाओं की माला,
मधुमय प्याली, मधुमय प्याला,
मैं इसे सजानेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(३)

जब ये मधु पी-पीकर छलकें,
देखो इनकी पुलकित पलकें,
कल कंधों पर चंचल अलकें,
मैं देख जिन्हें मतवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(४)

इनके मदिराभ अधर देखो,
मृदु कर, कमनीय कमर देखो,
कटि किंकिणि, पद घूँघर देखो,
मैं मन को हरनेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(५)

सब चलीं लिए मधु-घट देखो,
झर-झर लहराते पट देखो,
झिल-मिल हिलते घूँघट देखो,

मैं चित्त चुरानेवाला हूँ !
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ !

(६)

वे देतीं प्याले चूम-चूम,
वे बाँट रहीं मधु घूम-घूम,
वे झुक-झुककर, वे झूम-झूम,

मद-मत्त बनानेवाला हूँ !
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ !

(७)

पीनेवाले हैं बड़े-बड़े,
देखो पीते कुछ खड़े-खड़े,
कुछ बैठ-बैठ, कुछ पड़े-पड़े,

यह सभा जुटानेवाला हूँ !
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ !

(८)

कुछ आते हैं अरमान-भरे,
कुछ जाते हैं एहसान-भरे,
कुछ पीते गर्व-गुमान-भरे,
मन सबका रखनेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(९)

अब चिंताओं का भार कहाँ,
अब क्रूर-कठिन संसार कहाँ,
अब कुसमय का अधिकार कहाँ,
भय-शोक भुलानेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(१०)

अब ज्ञान कहाँ, अज्ञान कहाँ,
अब पद-पदवी का ध्यान कहाँ,
अब जाति-वंश अभिमान कहाँ,
सम-भाव बनानेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(११)

हो मस्त जिसे होना, आए,
जितने चाहे साथी लाए,
जितनी जी चाहे पी जाए,
'बस' कभी न कहनेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(१२)

आओ सब के सब साथ चले,
सब एक खाक ही के पुतले,
क्या ऊँच-नीच, क्या बुरे-भले,
मैं स्वागत करनेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(१३)

आओ, आओ, मत शरमाओ,
क्या सोच रहे हो? बतलाओ,
है दाम नहीं, मत पछताओ,
मैं मुफ्त लुटानेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(१४)

मैं पूछ-पूछ मदिरा दूँगा,
आशीष-दुआ सबकी लूँगा,
सबको खुशकर मैं खुश हूँगा,
जी खुश कर देनेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

(१५)

कटु जीवन में मधुपान करो,
जग के रोदन में गान करो,
मादकता का संमान करो—
यह पाठ पढ़ानेवाला हूँ!
मैं ही मालिक-मधुशाला हूँ!

मधुपायी

मधु-प्यास बुझाने आए हम,
मधु-प्यास बुझाने हम आए !

पग-पायल की झनकार हुई,
पीने को एक पुकार हुई,
बस हम दीवानों की टोली
चल देने को तैयार हुई,
मदिरालय के दरवाज़ों पर
आवाज़ लगाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए !

हमने छोड़ी कर की माला,
पोथी-पत्रा भू पर डाला,
मंदिर-मस्जिद के बंदी-गृह
को तोड़ लिया कर में प्याला
औ' दुनिया को आज़ादी का
संदेश सुनाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

क्रोधी मोमिन हमसे झगड़ा,
पंडित ने मंत्रों से जकड़ा,
पर हम थे कब रुकनेवाले,
जो पथ पकड़ा, वह पथ पकड़ा,
पथभ्रष्ट जगत को मस्ती की
अब राह बताने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

छिपकर सब दिन था जग पीता,
पीता न अगर, कैसे जीता?
जब हम न समझने थे इसको,
वह दिन बीता, वह युग बीता;
साक़ी से मिल मदिरा पीने
अब खुले-खज़ाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

मग में कितने सागर गहरे,
कितने नद-नाले नीर भरे,
कितने सर, निर्भर, स्रोत मिले,
पर नहीं कहीं पर हम ठहरे;
तेरे लघु प्याले में ही बस
अपनत्व डुबाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

है ज्ञात हमें नश्वर जीवन,
नश्वर इस जगती का क्षण-क्षण,
है किंतु अमरता की आशा
करती रहती उर में क्रंदन;
नश्वरता और अमरता का
अब द्वंद्व मिटाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

दूरस्थित स्वर्गों की छाया
से विश्व गया है बहलाया;
हम क्यों उन पर विश्वास करें,
जब देख नहीं कोई आया?
अब तो इस पृथ्वी-तल पर ही
सुख-स्वर्ग बसाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

हम लाए हैं केवल हस्ती,
ले, साक़ी, दे अपनी मस्ती,
जीवन का सौदा ख़त्म करें,
मिल मुक्ति हमें जाए सस्ती;
साक़ी, तेरे मदिरालय को
अब तीर्थ बनाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

चिरजीवी हो साक़ीबाला!
चिर-दिवस जिए मधु का प्याला!
जो मस्त हमें करनेवाली,
आबाद रहे वह मधुशाला!
इतने दिन जो बदनाम रही,
उसका गुण गाने हम आए!
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

दी हाथ खुले तूने हाला,
हम सबने भी जी-भर ढाला,
यह तो अनबूझ पहेली है—
क्यों बुझ न सकी अंतर्ज्वाला?
मदिरालय से पीकर के भी
क्या प्यासे जाने हम आए?
मधु-प्यास बुझाने हम आए!

कल्पना सुरा औ' साक़ी है,
पीनेवाला एकाकी है,
यह भेद हमें जब ज्ञात हुआ,
क्या और समझना बाक़ी है ?
जो गाँठ न अब तक सुलझी थी,
उसको सुलझाने हम आए।
मधु-प्यास बुझाने हम आए !

यह सपना भी बस दो पल है,
उर की भावुकता का फल है,
भोली मानवता चेत, अरे !
सब धोका है, सारा छल है !
हम बिना पिए भी पछताते,
पीकर पछताने हम आए !
मधु-प्यास बुझाने हम आए !

पथ का गीत

गुंजित कर दो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

सुंदर-सुंदर गीत बनाता,
गाता, सबसे नित्य गवाता,
थकित बटोही का बहला मन
जीवन-पथ की श्रांति मिटाता,
यह मतवाला ज़िंदाबाद !
गुंजित कर दो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

हम सब मधुशाला जाएँगे,
आशा है, मदिरा पाएँगे,
किंतु हलाहल ही यदि होगा
पीने से क्या घबराएँगे;
पीनेवाला ज़िंदाबाद !
गुंजित करदो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

उफ़ ! कितने इस पथ पर आते,
पहुँच मगर कितने कम पाते,
है हमको अफ़सोस न इसका,
इसपर जो मरते तर जाते;
मरनेवाला ज़िंदाबाद !
गुंजित करदो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

यह तो दीवानों का दल है,
पीना सब का ध्येय अटल है,
प्राप्त न हो जब तक मधुशाला,
पड़ सकती किसके उर कल है ?
वह मधुशाला ज़िंदाबाद !
गुंजित करदो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

झाँक रहा वह देखो साक़ी,
कर में एक सुराही बाँकी,
देख लिया क्या हमको आते ?
धार लगी गिरने मदिरा की;
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !
गुंजित करदो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

अपना-अपना पात्र सँभालो,
ऊँचे अपने हाथ उठालो,
सात बलाएँ ले मदिरा की,
प्याले अपने होठ लगा लो,
मधु का प्याला ज़िंदाबाद !
गुंजित करदो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

प्याले में क्या आई हाला ?
नहीं, नहीं, उतरी मधुबाला !
पीकर कैसे यह छवि खो दूँ—
सोच रहा हर पीनेवाला।
मादक हाला ज़िंदाबाद !
गुंजित करदो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

जिसमें झलक रही मधुशाला,
जिसमें प्रतिबिंबित मधुबाला,
कौन सकेगा पी उस मधु को
कितनी ही हो अंतर्ज्वाला ?
उर की ज्वाला ज़िंदाबाद !
गुंजित करदो पथ का कण-कण
कह मधुशाला ज़िंदाबाद !

सुराही

मैं एक सुराही हाला की!
मैं एक सुराही मदिरा की!

मदिरालय हैं मंदिर मेरे,
मदिरा पीनेवाले, चेरे,
पंडे-से मधु-विक्रेता को,
जो निशि-दिन रहते हैं घेरे;
है देव-दासियों-सी शोभा
मधुबालाओं की माला की।
मैं एक सुराही हाला की!

कोयल-बुलबुल की तान यहाँ,
घड़ियाली और अज़ान यहाँ,
जिसको सुनकर खिँच आता है
पीनेवालों का ध्यान यहाँ,
तुलसी-बिरवों-सी पावनता
है अंगूरों की लतिका की।
मैं एक सुराही मदिरा की!

सब आर्य प्रवर आ सकते हैं,
सब आर्येतर आ सकते हैं,
इस मानवता के मंदिर में
सब नारी-नर आ सकते हैं;
केवल प्रवेश उसका निषिद्ध
जिसमें मधु-प्यास नहीं बाक़ी।
मैं एक सुराही हाला की!

सबका समान संमान यहाँ,
सबको समान बरदान यहाँ,
मैं शंकर-सी औढर दानी,
है मुक्ति बड़ी आसान यहाँ,
देरी है केवल फिरने की
सबपर मेरी चितवन बाँकी।
मैं एक सुराही मदिरा की!

इस मंदिर में पूजन मेरा,
अभिवादन-अभिनंदन मेरा,
निज भाग्य सराहा करते सब
पाकर मादक दर्शन मेरा,
जिस तप से यह पदवी पाई
मैंने, करलो उसकी झाँकी।
मैं एक सुराही हाला की!

मैं कुंभकार की चाक चढ़ी,
फिर मेरे तन पर बेलि कढ़ी,
तब गई चिता पर मैं रक्खी,
हर ओर अग्नि की ज्वाल बढ़ी,
जल चिता गई हो राख-राख,
मैं मिट्टी किंतु रही बाक़ी।
मैं एक सुराही मदिरा की!

मैं मृत्यु विजय करके आई,
मैंने दैवी महिमा पाई,
मानव के नीरस जीवन में
मैं अमृत-सा मधुरस लाई,
इस गुण के कारण ही तो मैं
बन प्राण गई मधुशाला की।
मैं एक सुराही हाला की

मैं मधु से नहलाई जाती,
फिर प्यालों की माला पाती,
तब मेरे चारों ओर खड़ी
होकर मधु-बालाएँ गातीं;
इस भाँति गई है की पूजा
जगती-तल पर किस प्रतिमा की ?
मैं एक सुराही मदिरा की !

मैं मिट्टी की थी लाल हुई,
मधु पीकर और निहाल हुई,
जब चली मुझे ले मधुबाला,
'छल-छल' करके वाचाल हुई,
जिसको सुनकर पंडित-मुल्ले
भूले सब अपनी चालाकी।
मैं एक सुराही मदिरा की !

अब इनकी मिन्नत कौन करे ?
इनके शापों से कौन डरे ?
जब स्वर्ग लिए मैं फिरती हूँ,
तब कौन क़यामद तक ठहरे ?
जो प्राप्य अभी, उसके हित कल
की राह किसी ने कब ताकी ?
मैं एक सुराही मदिरा की !

मैं मधुबाला के कंधों पर
उपदेश यही देती चढ़कर—
'अपने जीवन के क्षण-क्षण को,
लो मेरी मादकता से भर;
यह मिलना-जुलना क्षण-भर का,
फिर जाना सबको एकाकी।'
मैं एक सुराही हाला की!

लघु मानव का कितना जीवन!
फिर क्यों उसपर इतना बंधन?
यदि मदिरा का ही अभिलाषी,
पी सकता कुछ गिनती के कण!
चुल्लू भर में गल सकता है
उसके तन का जामा खाकी।
मैं एक सुराही मदिरा की!

मैं हूँ प्यालों में जम जाती,
मधु के वितरण में रम जाती,
भरती अगणित मुख में मदिरा,
अपनी निधि, पर, कब कम पाती;
मैं घूम जिधर पड़ती, उठती
है गूँज उधर ध्वनि 'ला-ला' की।
मैं एक सुराही हाला की!

औरों के हित मेरी हस्ती,
औरों के हित मेरी मस्ती,
मैं पीती सिंचित करने को
इन प्यासे प्यालों की बस्ती,
आनंद उठाते ये, अपयश
की भागी बनती मैं, साक़ी।
मैं एक सुराही मदिरा की!

उन्मत्त बनाना खेल नहीं,
मधु से भी बुझती प्यास कहीं!
उर तापों से पिघला मेरा,
यह नहीं सुरा की धार बही!
उर के आसव से ही होती
है शांति हृदय की ज्वाला की।
मैं एक सुराही हाला की!

तुमने समझा मधुपान किया?
मैंने निज रक्त प्रदान किया!
उर क्रंदन करता था मेरा,
पर मुख से मैंने गान किया!
मैंने पीड़ा को रूप दिया,
जग समझा मैंने कविता की!
मैं एक सुराही मदिरा की!

प्याला

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(१)

कल काल-रात्रि के अंधकार
में थी मेरी सत्ता विलीन,

इस मूर्तिमान जग में महान
था मैं विलुप्त कल रूप-हीन,

कल मादकता की भरी नींद
थी जड़ता से ले रही होड़,

किन सरस करों का परस आज
करता जाग्रत जीवन नवीन ?

मिट्टी से मधु का पात्र बनूँ—
किस कुंभकार का यह निश्चय ?

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(२)

भ्रम भूमि रही थी जन्म-काल,
था भ्रमित हो रहा आसमान,
उस कलावान का कुछ रहस्य
होता फिर कैसे भासमान !

जब खुली आँख, तब हुआ ज्ञात,
थिर है सब मेरे आस-पास,

समझा था सबको भ्रमित, किंतु
भ्रम स्वयं रहा था मैं अजान;

भ्रम से ही जो उत्पन्न हुआ,
क्या ज्ञान करेगा वह संचय !
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(३)

जो रस लेकर आया भूपर,
जीवन-आतप ले गया छीन,
खो गया पूर्व गुण, रंग, रूप
हो जग की ज्वाला के अधीन,
मैं चिल्लाया, 'क्यों ले मेरी
मृदुता करतीं मुझको कठोर ?'
लपटें बोलीं, 'चुप बजा-ठोंक
लेगी तुझको जगती प्रवीण ।'
यह लो, मीना-बाज़ार लगा,
होता है मेरा क्रय-विक्रय ।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(४)

मुझको न सके ले धन-कुबेर
दिखलाकर अपना ठाट-बाट,
मुझको न सके ले नृपति मोल
दे माल-ख़ज़ाना, राज-पाट,

अमरों ने अमृत दिखलाया,
दिखलाया अपना अमर-लोक,
ठुकराया मैंने दोनों को
रख कर अपना उन्नत ललाट,
बिक, मगर, गया मैं मोल बिना,
जब आया मानव सरस-हृदय !
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(५)

बस एक बार पूछा जाता
यदि अमृत से पड़ता पाला,
यदि पात्र हलाहल का बनता,
बस एक बार जाता ढाला,
चिर-जीवन औ' चिर-मृत्यु जहाँ
लघु जीवन की चिर-प्यास कहाँ !
फिर-फिर जो होठों तक जाता
वह तो बस मदिरा का प्याला;
मेरा घर है अरमानों से
परिपूर्ण जगत का मदिरालय !
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(६)

मैं सखी सुराही का साथी,
सहचर मधुबाला का ललाम,
अपने मानस की मस्ती से
उफनाया करता आठ याम,
कल क्रूर काल के गालों में
जाना होगा—इस कारण ही
कुछ और बढ़ा दी है मैंने
अपने जीवन की धूम-धाम;
इन मेरी उल्टी चालों पर
संसार खड़ा करता विस्मय।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(७)

मेरे पथ में आ-आकर के
तू पूछ रहा है बार-बार
'क्यों तू दुनिया के लोगों में
करता है मदिरा का प्रचार ?'
मैं वाद-विवाद करूँ तुझसे,
अवकाश कहाँ इतना मुझको।
'आनंद करो'—यह व्यंग-भरी
है किसी दग्ध-उर की पुकार ;

कुछ आग बुझाने को पीते
ये भी, कर मत इनपर संशय !
मिट्टी का तन, मस्ती का मन
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(८)

मैं देख चुका जा मस्जिद में
झुक-झुक मोमिन पढ़ते नमाज़,
पर अपनी इस मधुशाला में
पीता दीवानों का समाज;
वह पुण्य कृत्य, यह पाप कर्म
कह भी दूँ, तो दूँ क्या सबूत !
कब कंचन मस्जिद पर बरसा ?
कब मदिरालय पर गिरी गाज ?
यह चिर-अनादि से प्रश्न उठा,
मैं आज करूँगा क्या निर्णय !
मिट्टी का तन, मस्ती का मन
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

(९)

सुनकर आया हूँ मंदिर में
रटते हरि-जन थे राम-राम,
पर अपनी इस मधुशाला में
जपते मतवाले जाम-जाम,

पंडित मदिरालय से रूठा,
मैं कैसे मंदिर से रूठूँ,

मैं फ़र्क़ बाहरी क्यों देखूँ,
मुझको मस्ती से महज़ काम।

भय-भ्रांति-भरे जग में दोनों
मन को बहलाने के अभिनय!

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय!

(१०)

संसृति की नाटक-शाला में
है पड़ा तुझे बनना ज्ञानी,
है पड़ा मुझे बनना प्याला,
होना मदिरा का अभिमानी,

संघर्ष यहाँ किसका किससे,
यह तो सब खेल-तमाशा है।

वह देख, यवनिका गिरती है!
समझा कुछ अपनी नादानी!

छिप जाएँगे हम दोनों ही
लेकर अपने-अपने आशय!

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय!

(११)

पल में मृत पीनेवाले के
कर से गिर भू पर आऊँगा ,
था निर्मित मैं जिस मिट्टी से
उस मिट्टी में मिल जाऊँगा ;

अधिकार नहीं जिन बातों पर ,
उन बातों की चिंता करके

अब तक जग ने क्या पाया है ?
मैं कर चर्चा क्या पाऊँगा ?

मुझको अपना ही जन्म-निधन
है सृष्टि प्रथम, है अंतिम 'लय !

मिट्टी का तन, मस्ती का मन ,
क्षण-भर जीवन—मेरा परिचय !

हाला

उल्लास-चपल, उन्माद-तरल,
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय !

(१)

जग ने ऊपर की आँखों से
देखा मुझको बस लाल-लाल,
कह डाला मुझको जल्दी-से
द्रव माणिक या पिघला प्रवाल,
जिसको साक़ी के अधरों ने
चुंबित करके स्वादिष्ट किया,

कुछ मनमौजी मजनूँ जिसको
ले-ले प्यालों में रहे ढाल ;

मेरे बारे में है फैला
दुनिया में कितना भ्रम-संशय !
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल,
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय !

(२)

वह भ्रांत महा जिसने समझा
मेरा घर था जलधर अथाह ,
जिसकी हिलोर में देवों ने
पहचाना मेरा लघु प्रवाह ;

अंशावतार वह था मेरा ,
मेरा तो सच्चा रूप और ;

विश्वास अगर मुझपर, मानों—
मेरा दो कण वह महोत्साह ,

जो सुरासुरों ने उर में धर
मथ डाला वारिधि-वृहत्-हृदय !
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल ,
प्रति पल पागल—मेरा परिचय !

(३)

मेरी मादकता से ही तो
मानव सब सुख-दुख सका झेल,
कर सकी मानवों की पृथ्वी
शशि-रवि सुदूर से हेल-मेल,

मेरी मस्ती से रहे नाच
ग्रह गण, करता है गगन गान,

वह महोन्माद मैं ही जिससे
यह सृष्टि-प्रलय का खेल खेल,

दुस्सह चिर-जीवन सह सकता
वह चिर-एकाकी लीलामय!
उल्लास-चपल—उन्माद-तरल
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय!

(४)

अवतरित रूप में भी तो मैं
इतनी महान, इतनी विशाल!
मेरी दो नन्हीं बूँदों ने
रँग दिया उषा का चीर लाल!

संध्या की चर्चा क्या वह तो
उसके दूकूल का एक छोर,

जिसकी छाया से ही रंजित
पाटल-कुटुंब का मृदुल गाल !

कर नहीं मुझे सकता बंदी
दर-दीवारों में मदिरालय !
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय !

(५)

अवतीर्ण रूप में भी तो है
मेरा इतना सुरभित शरीर,
दो साँस बहा देती मेरी
जग-पतझड़ में मधुऋतु समीर,

जो पिक-प्राणों में कर प्रवेश
तनता नभ में स्वर का वितान,

लाता कमलों की महफ़िल में
नर्तन करने को भ्रमर-भीर !

मधुबाला के पग-पायल क्या
पाएँगे मेरे मन पर जय !
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय !

(६)

लवलेश लास लेकर मेरा
झरना झूमा करता गिरिपर,
सर हिल्लोलित होता रह-रह,
सरि बढ़ती लहरा-लहराकर,
मेरी चंचलता की करता
रहता है सिंधु नकल असफल,

अज्ञानी को यह ज्ञात नहीं,
मैं भर सकती कितने सागर!
कर पाएँगे प्यासे मेरा
कितना इन प्यालों में संचय!
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल,
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय!

(७)

हूँ आज प्रवाहित मैं ऐसे,
जैसे कवि के हृदयोद्गार!
तुम रोक नहीं सकते मुझको,
कर नहीं सकोगे मुझे पार!
यह अपनी काग़ज़ की नावें
तट पर बाँधो; आगे न बढ़ो,

वे तुम्हें डुबा देंगी गलकर
हे श्वेत-केश-धर कर्णधार!

बह सकता जो मेरी गति से
पा सकता वह मेरा आश्रय!
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल,
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय!

(८)

उद्दाम तरंगों से अपनी
मस्जिद - गिरजाघर - देवालय
मैं तोड़ गिरादूँगी पल में—
मानव के बंदी-गृह निश्चय।

जो कूल, किनारे, तट करते
संकुचित मनुज के जीवन को,

मैं काट सबों को डालूँगी
किसका डर मुझको? मैं निर्भय!

मैं ढहा-बहा दूँगी क्षण में
पाखंडों के गुरुगढ़ दुर्जय!
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल,
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय!

(९)

फिर मैं नभ-गुंबद के नीचे
नव-निर्मल द्वीप बनाऊँगी,
जिसपर हिल-मिलकर बसने को
संपूर्ण जगत को लाऊँगी,

उन्मुक्त वायुमंडल में अब
आदर्श बनेगी मधुशाला!'

प्रिय प्रकृति-परी के हाथों से
ऐसा मधुपान कराऊँगी,

चिर-जरा-जीर्ण मानव फिर-से
पाएगा नूतन यौवन-वय!"
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल!
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय!'

(१०)

रे वक्र भ्रुओंवाले योगी!
दिखला मत मुझको वह मरुथल,
जिसमें जाकर खो जाएगी
मेरी द्रुत गति, मेरी ध्वनि कल।

है ठीक अगर तेरा कहना,
मैं और चलूँगी इठलाकर!

संदेहों में क्यों व्यर्थ पड़ूँ?
मेरा तो है विश्वास अटल—

मैं जिस जड़ मरु में पहुँचूँगी,
कर दूँगी उसको जीवन-मय!
उल्लास-चपल उन्माद-तरल,
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय!

(११)

लघुतम गुरुतम से संयोजित—
यह जान, मुझे जीवन प्यारा,
परमाणु कँपा जब करता है,
हिल उठता नभ-मंडल सारा!

यदि एक वस्तु भी सदा रही,
तो सदा रहेगी वस्तु सभी!

त्रैलोक्य बिना जलहीन हुए
सकती न सूख कोई धारा!

सब सृष्टि नष्ट हो जाएगी,
हो जाएगा जब मेरा क्षय!
उल्लास-चपल, उन्माद-तरल,
प्रतिपल पागल—मेरा परिचय!

———

जीवन-तरुवर

(१)

भावुकता की हरियाली में
हरे रहो, जीवन के तरुवर !
सरस कल्पना के सुमनों से
भरे रहो, जीवन के तरुवर !

(२)

गान-विहंगों के शरणस्थल
बने रहो, जीवन के तरुवर !
रसिक पथिक पर छाया के हित
घने रहो, जीवन के तरुवर !

(३)

विपदाओं की अंधवायु में
तने रहो, जीवन के तरुवर !
अपने सौरभ की मस्ती में
सने रहो, जीवन के तरुवर !

प्यास

तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय !

(१)

तू अगम सिंधु की राशि लिए,
मैं मरु असीम की प्यास लिए,
मैं चिर-विचलित संदेहों से,
तू शांत अटल विश्वास लिए,
तेरी मुझको आवश्यकता,
आवश्यकता तुझको मेरी,

मैं जीवन का उच्छ्‌वास लिए,
तू जीवन का उल्लास लिए,

तुझसे मिल पूर्ण चला बनने,
मेरा बस इतना ही परिचय।
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय !

(२)

क्या कहती ? 'दुनिया को देखो,'
दुनिया रोती है, रोने दो,
मैं भी रोया, रोना अच्छा,
आँसू से आँखें धोने दो,

रोनेवाला ही समझेगा
कुछ मर्म हमारी मस्ती का;

सुन, अश्रु-भरी आँखें कहतीं—
यह राग-रंग भी होने दो,

रोदन-गायन दोनों के स्वर
से सधती जग-वीणा की लय।
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय !

(३)

क्या कहती ? 'दुनिया को देखो',
दुनिया देती लानत मुझको,
है कहती फिरती गली-गली,
मदिरा पीने की लत मुझको,

दुनिया तो मुझसे है रूठी,
है तुली हुई बद कहने पर,

गंगाजल जब मैं था पीता,
कब दी उसने इज़्ज़त मुझको ?

बदनाम रहे हो मंदिर हैं,
यह तो फिर ठहरा मदिरालय !
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय !

(४)

बादल वारिधि से मधु पीकर,
नभ के आँगन में मँडराते,
चपला-साक़ी को संग लिए,
नर्तन करते, गायन गाते,

कोई न बुरा कहता उनको,
क़िस्मत के वे कितने अच्छे !

लेकिन मुझपर कल के ज्ञानी
भी आँखें अपनी दिखलाते;

कर पाया हूँ इन अधरों से
मदिरा पाने की सिर्फ़ विनय !
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय !

(५)

रवि की प्यासी किरणें भू तक
लाखों योजन चलकर आतीं,
सर, निर्झर, सरिता, सागर के
जल से निज प्यास बुझा जातीं,

युग-युग से जग यह देख रहा,
उँगली न उठाई पर उसने,

चर्चा घर-घर में फैल गई
मिलते हम-तुम, ओ मदमाती !

मिलना हम दोनों का भी तो
है अन्य किसी का ही निर्णय।
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय !

(६)

अस्तित्व न था जब तृष्णा का,
मदिरालय था यह विशृंखल,
विक्रेता था मृतप्राय पड़ा,
चंचल साक़ी भी थे अविचल,

कुछ पता नहीं था प्यासों का,
क्या ज़िक्र घटों का, प्यालों का,

इस परी तृषा के आते ही
मच गई पलों में चहल-पहल,

है रंग-मंच तृष्णा का ही,
जिसपर यह संसृति का अभिनय!
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय!

(७)

पृथ्वी में जिसने प्यास भरी,
बादल में उसने नीर भरा,
तट-अधरों को नीचे रक्खा
है प्याला अंबुधि का गहरा,

वह गुरु-महान की तृष्णा में
छोटों की प्यास नहीं भूला,

भौंरों की प्यास बुझाने को
सर में पद्मों का पात्र धरा,

छोटे-से-छोटे तृण का ही
रख ध्यान बना नभ हिम-कण-मय !
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय !

(८)

सिंचित हो नभ की मदिरा से
यह धरा हरित हो लहराती,
तट गिर-गिर पड़ते सागर में,
अलि-अवली रस पी-पी गाती,

जिस-जिस उर में दी प्यास गई,
दी तृप्ति गई उस-उस उर में,

मानव को ही अभिशाप मिला,
"पीकर भी दग्ध रहे छाती!'

किन अपराधों के बदले में
मानव के प्रति यह क्रूर अनय !
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित हृदय !

(९)

यह 'क्रूर अनय' सह सकता है
केवल इस बल पर मन मेरा,
इसके कारण ही तो, सुंदरि!
सत्संग मिला मुझको तेरा।

मेरे दामन, तेरे अंचल
की गाँठ लगा दी तृष्णा ने

उर-कुंड-हवन के ओर सभी
आ, दें मिलकर मंगल फेरा।

कर कौन अलग सकता हमको
हो जाने पर विधिवत् परिणय?
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय!

(१०)

जब मानव का अपनी तृष्णा
से है इतना चिर-दृढ़ नाता,
तब मैं मदिरा का अभिलाषी
क्यों जग में दोषी कहलाता?

मेरी तृष्णा तो मूर्तिमती
परिपूर्ण विश्व की आकांक्षा,

मानव अशांति, मानव स्वप्नों
के गायन ही तो हूँ गाता,

गाऊँगा जब तक एक नहीं
होकर मिलते संघर्ष-प्रणय!
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय!

(११)

मैं अर्थ बताता तृष्णा का,
क्षण बीत रहे हैं जीवन के,
किस-किस का दूर करूँगा मैं,
संदेह यहाँ हैं जन-जन के,

भर दे प्याला, भूले दुनिया,
भूले अपूर्णता दुनिया की,

मतवालों ने कब काम किए
जग में रहकर जग के मन के?

वह मादकता ही क्या जिसमें
बाक़ी रह जाए जग का भय!
तेरा-मेरा संबंध यही—
तू मधुमय औ' मैं तृषित-हृदय!

बुलबुल

सुरा पी, मद पी, कर मधुपान,
रही बुलबुल डालों पर बोल!

(१)

लिए मादकता का संदेश
फिरा मैं कब से जग के बीच,
कहीं पर कहलाया विक्षिप्त,
कहीं पर कहलाया मैं नीच।

सुरीले कंठों का अपमान
जगत में कर सकता है कौन !
स्वयं, लो, प्रकृति उठी है बोल
विदा कर अपना चिर-व्रत-मौन !

अरे, मिट्टी के पुतलो आज !
सुनो अपने कानों को खोल ,
सुरा पी, मद पी, कर मधुपान ,
रही बुलबुल डालों पर बोल !

(२)

यही श्यामल नभ का संदेश ,
रहा जो तारों के सँग झूम ,
यही उज्ज्वल शशि का संदेश
रहा जो भू के कण-कण चूम ,

यही मलयानिल का संदेश ,
रहे जिससे पल्लव-दल डोल ,
यही कलि-कुसुमों का संदेश ,
रहे जो गाँठ सुरभि की खोल ,

यही ले-ले उठतीं संदेश ,
सलिल की सहज हिलोरें लोल ,
प्रकृति की प्रतिनिधि बनकर आज
रही बुलबुल डालों पर बोल !

(३)

अरुण हाला से प्याला पूर्ण,
ललकता उत्सुकता के साथ
निकट आया है तेरे आज
सुकोमल मधुबाला के हाथ,

सुरा-सुषमा का पा यह योग
नहीं यदि पीने का अरमान,
भले तू कह अपने को भक्त,
कहूँगा मैं तुझको पाषाण!

हमें लघु मानव को क्या लाज,
गए मुनि-देवों के मन डोल!
सरसता से संयम को जीत
रही बुलबुल डालों पर बोल!

(४)

कहीं दुर्जय देवों का कोप—
कहीं तूफ़ान, कहीं भूचाल,
कहीं पर प्रलय-कारिणी बाढ़,
कहीं पर सर्व-भक्षिणी ज्वाल,

कहीं मानव के अत्याचार,
कहीं दीनों की दैन्य पुकार,
कहीं दुश्चिंताओं के भार
दबा क्रंदन करता संसार!

करें, आओ, मिल हम दो चार
जगत—कोलाहल में कल्लोल !
दुखों से पागल होकर आज
रही बुलबुल डालों पर बोल !

(५)

विभाजित करती मानव जाति
धरा पर देशों की दीवार,
ज़रा ऊपर तो उठकर देख,
वही जीवन है इस—उस पार।
घृणा का देते हैं उपदेश
यहाँ धर्मों के ठीकेदार,
खुला है सब के हित, सब काल
हमारी मधुशाला का द्वार!
करें आओ विस्मृत वे भेद,
रहे जो जीवन में विष घोल,
क्रांति की जिह्वा बनकर आज
रही बुलबुल डालों पर बोल!

(६)

एक क्षण पात-पात से प्रेम,
एक क्षण डाल-डाल पर खेल,
एक क्षण फूल-फूल से स्नेह,
एक क्षण विहग-विहग से मेल;

अभी है जिस क्षण का अस्तित्व,
दूसरे क्षण बस उसकी याद,
याद करनेवाला यदि शेष;
नहीं क्या सम्भव क्षण-भर बाद

उड़ें अज्ञात दिशा की ओर
पखेरू प्राणों के पर खोल!
सजग करती जगती को आज
रही बुलबुल डालों पर बोल!

(७)

हमारा अमर सुखों का स्वप्न ,
जगत का, पर, विपरीत विधान,
हमारी इच्छा के प्रतिकूल
पड़ा है आ हमपर अनजान।

झुका कर इसके आगे शीश
नहीं मानव ने मानी हार!
मिटा सकने में यदि असमर्थ ,
भुला सकते हम यह संसार!

हमारी लाचारी की एक
सुरा ही औषध है अनमोल,
लिए निज वाणी में विद्रोह
रही बुलबुल डालों पर बोल!

(८)

जिन्हें जग-जीवन से संतोष,
उन्हें क्यों भाए इसका गान ?
जिन्हें जग-जीवन से वैराग्य,
उन्हें क्यों भाए इसकी तान ?

हमें जग-जीवन से अनुराग,
हमें जग-जवीन से विद्रोह !
इसे क्या समझेंगे वे लोग,
जिन्हें सीमा-बंधन का मोह !

करे कोई निंदा दिन-रात,
सुयश का पीटे कोई ढोल,
किए कानों को अपने बंद,
रही बुलबुल डालों पर बोल !

पाटल-माल

मधुप-दल का करती आह्वान
रही खिल वन में पाटल-माल !

(१)

बही वन के, उपवन के बीच
मचलती मादक मलय-बयार,
हरित पल्लव-अधरों को खोल
हँसीं ये डालें काँटेदार।

सरल वह बालपने का हास
न रहने पाया था कुछ रोज
कि ले नवयौवन का संवाद
कली-से उभरे अमित उरोज !

भले जगती अपना उन्माद
छिपा रक्खे ढक, मूँद, सँभाल,
मधुप-दल का करती आह्वान
रही खिल वन में पाटल-माल !

(२)

नग्न तृण, तरु, पल्लव, खगवृंद,
नग्न है श्यामल-तन आकाश,
नग्न रवि, शशि, तारक, नीहार,
नग्न बादल, विद्युत, वातास,

जलधि के आँगन में अविराम
ऊर्मियाँ नर्तन करतीं नग्न,
सरोवर, नद, निर्भर, गिरि, शृंग,
नग्न रहकर ही रहते मग्न !

भली मानवता ही क्यों आज
रही अपने पर परदा डाल ?
यही करती जगती से प्रश्न,
रही खिल वन में पाटल-माल !

(३)

किसी युग में मानव की आँख
सकी स्वर्गिक सुषमा को तोल,
सकी दे उसका वांच्छित मूल्य,
खुशी से उर की गाँठें खोल;

आज कहलाता है अश्लील
हृदय का अनियंत्रित उद्गार,
विकृत जीवन को ही जग आज
समझ बैठा है लोकाचार!

प्रगति-मय यौवन का पट थाम
न बैठो, जग के कंटक-जाल!
यही कहती काँटों से आज
रही खिल वन में पाटल-माल!

(४)

पुण्य की है जिसको पहचान,
उसे ही पापों का अनुमान,
सदाचारों से जो अनभिज्ञ,
दुराचारों से वह अज्ञान,

उसी के लज्जा से नत नेत्र,
जिसे गौरव का प्रतिपल ध्यान;
जगत के जीवन से अब, हाय,
गया उठ भोलेपन का मान!

लगा मत उस भोली को दोष,
न उसपर आँखें लाल निकाल,
स्वयं निज सौरभ से अनजान
रही खिल वन में पाटल-माल !

(५)

करे मृदु पंखुरियों को क़ैद
कुटिल काँटों का कारागार,
बहाएँ बेचारी प्रति प्रात
मोतियों से आँसू की धार,

सरसता की प्रतिमा प्रत्यक्ष
पड़ें जा पाषाणों के हाथ,
चला ज्ञानी देने उपदेश,
न्याय होता है सब के साथ !

समझ लें आँखोंवाले खूब,
नियति की कैसी टेढ़ी चाल;
रँगी अपने लोहू से आज
रही खिल वन में पाटल-माल !

(६)

नयन में पा आँसू की बूँद,
अधर के ऊपर पा मुस्कान,
कहीं मत इसको, हे संसार !
दुखों का अभिनय लेना मान।

नयन से नीरव जल की धार
ज्वलित उर का प्रायः उपहार,
हँसी से ही होता है व्यक्त
कभी पीड़ित उर का उद्‌गार !

तप्त आँसू से झुलसे गाल
किए कोई मदिरा से लाल !
इसी का तो करती संकेत
रही खिल वन में पाटल-माल !

(७)

गगन के आँगन में विस्तीर्ण
खिला कोई पाटल का फूल,
उसीपर तारक हिम-कण-रूप,
नहीं उसकी डालों में शूल;

पंखुरी एक उसी की नित्य
प्रात में गिर पड़ती अनजान,
पूर्व से रंजित होकर और
उषा का बन जाती परिधान !

गिरे दल इसके हो जड़-म्लान !
बड़ा रे इसका रंज-मलाल।
विवशता की, पर, ले-ले साँस
रही खिल वन में पाटल-माल !

(८)

हृदय के अंदर वह उन्माद
कि जिससे पागल हो संसार
खोल दे, कर-पद-बंधन काट,
विश्व-बंदी-गृह के सब द्वार !

हृदय के अंदर वह विद्रोह
कि जाए इंद्रासन भी डोल,
हुई बस इतने से लाचार,
नहीं मुँह सकती अपना खोल !

दबा मन का सब क्रोध-विरोध
गई बुलबुल वाचाल निकाल,
मथित उर थामे अपना, हाय,
रही खिल वन में पाटल-माल !

इस पार——उस पार

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

यह चाँद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का,
लहरा-लहरा यह शाखाएँ
कुछ शोक भुला देतीं मन का,

कल मुर्झानेवाली कलियाँ
हँसकर कहती हैं मग्न रहो,

बुलबुल तरु की फुनगी पर से
संदेश सुनाती यौवन का,
तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का
उपचार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

जग में रस की नदियाँ बहतीं,
रसना दो बूँदें पाती है,
जीवन की झिलमिल-सी झाँकी
नयनों के आगे आती है,
स्वर-ताल-मयी वीणा बजती
मिलती है बस झंकार मुझे,
मेरे सुमनों की गंध कहीं
यह वायु उड़ा ले जाती है !
ऐसा सुनता, उस पार, प्रिये,
ये साधन भी छिन जाएँगे;
तब मानव की चेतनता का
आधार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

प्याला है, पर पी पाएँगे,
है ज्ञान नहीं इतना हमको,
इस पार नियति ने भेजा है
असमर्थ बना कितना हमको !
कहनेवाले, पर, कहते हैं,
हम कर्मों में स्वाधीन सदा,
करनेवालों की परवशता
है ज्ञात किसे, जितनी हमको ?
कह तो सकते हैं, कहकर ही
कुछ दिल हल्का कर लेते हैं;
उस पार अभागे मानव का
अधिकार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

कुछ भी न किया था जब उसका,
उसने पथ में काँटे बोए,
वे भार दिए धर कंधों पर,
जो रो-रोकर हमने ढोए,
महलों के स्वप्नों के भीतर
जर्जर खँडहर का सत्य भरा !
उर में ऐसी हलचल भर दी,
दो रात न हम सुख से सोए !

अब तो हम अपने जीवन-भर
उस क्रूर-कठिन को कोस चुके,
उस पार नियति का मानव से
व्यवहार न जाने क्या होगा !

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

संसृति के जीवन में, सुभगे !
ऐसी भी घड़ियाँ आएँगी,
जब दिनकर की तमहर किरणें
तम के अंदर छिप जाएँगी,

जब निज प्रियतम का शव रजनी
तम की चादर से ढक देगी,

तब रवि-शशि-पोषित यह पृथिवी
कितने दिन ख़ैर मनाएगी !

जब इस लंबे-चौड़े जग का
अस्तित्व न रहने पाएगा,
तब तेरा-मेरा नन्हा-सा
संसार न जाने क्या होगा !

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

ऐसा चिर-पतझड़ आएगा,
कोयल न कुहुक फिर पाएगी,
बुल-बुल न अँधेरे में गा-गा
जीवन की ज्योति जगाएगी,
अगणित मृदु-नव पल्लव के स्वर
मरमर न सुने फिर जाएँगे,
अलि-अवली कलि-दल पर गुंजन
करने के हेतु न आएगी;
जब इतनी रसमय ध्वनियों का
अवसान, प्रिये, हो जाएगा,
तब शुष्क हमारे कंठों का
उद्गार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

सुन काल प्रबल का गुरु गर्जन
निर्झरिणी भूलेगी नर्तन,
निर्झर भूलेगा निज 'टलमल',
सरिता, अपना 'कलकल' गायन,
वह गायक-नायक सिंधु कहीं
चुप हो छिप जाना चाहेगा!
मुँह खोल खड़े रह जाएँगे
गंधर्व, अप्सरा, किन्नर-गण!

संगीत सजीव हुआ जिनमें,
जब मौन वही हो जाएँगे,
तब, प्राण, तुम्हारी तंत्री का
जड़ तार न जाने क्या होगा !

इस पार प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

उतरे इन आँखों के आगे
जो हार चमेली ने पहने,
वह छीन रहा देखो माली
सुकुमार लताओं के गहने,

दो दिन में खींची जाएगी
ऊषा की साड़ी सिंदूरी,

पट इंद्रधनुष का सतरंगा
पाएगा कितने दिन रहने !

जब मूर्तिमती सत्ताओं की
शोभा-सुषमा लुट जाएगी,
तब कवि के कल्पित स्वप्नों का
शृंगार न जाने क्या होगा !

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

दृग देख जहाँ-तक पाते हैं,
तम का सागर लहराता है,
फिर भी उस पार खड़ा कोई
हम सब को खींच बुलाता है !

मैं आज चला, तुम आओगी
कल, परसों, सब संगी-साथी ।

दुनिया रोती-धोती रहती,
जिसको जाना है, जाता है ।

मेरा तो होता मन डगमग
तट पर के ही हलकोरों से !
जब मैं एकाकी पहुँचूँगा
मँझधार, न जाने क्या होगा !

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा !

———

पाँच पुकार

गूँजी मदिरालयभर में
लो, 'पियो, पियो' की बोली !

(१)

संकेत किया यह किसने ?
यह किसकी भौंहें घूमी ?
सहसा मधुबालाओं ने
मद-भरी सुराही चूमी;

फिर चलीं इन्हें सब लेकर,
होकर प्रतिबिंबित इनमें,

चेतन का कहना ही क्या,
जड़ दीवारें भी झूमी ;

ज्योंही सब ने कलि-मुख की
मृदु अधर-पखुरियाँ खोलीं,
गूँजी मदिरालय-भर में
लो, 'पियो, पियो' की बोली !

(२)

जिस अमृत-मय वाणी से
जड़ में जीवन जग जाता,
रुकता सुनकर वह कैसे
रसिकों का दल मदमाता ;

आँखों के आगे पाकर
अपने जीवन का सपना,

हर एक उसे छूने को
आया निज कर फैलाता ;

पा सत्य कलोल उठी कर
मधु के प्यासों की टोली,
गूँजी मदिरालय-भर में
लो, 'बढ़ो, बढ़ो' की बोली !

(३)

सारी साधें जीवन की
अधरों में आज समाईं,
सुख, शांति जगत की सारी
छन कर मदिरा में आई,

इच्छित स्वर्गों की प्रतिमा
साकार हुई, सखि, तुम हो;

अब ध्येय विसुधि, विस्मृति है,
है मुक्ति यही सुखदाई,

पल-भर की चेतनता भी
अब सह्य नहीं, ओ भोली !
गूँजी मदिरालय-भर में
लो 'भरो, भरो' की बोली !

(४)

मधु-घट कंधों से उतरे,
आशा से आँखें चमकीं,
छल-छल कह माणिक-मदिरा
प्यालों के अंदर दमकी,

दानी मधुबालाओं ने
ली झुका सुराही अपनी,

'आरंभ करो' कहती-सी
मधुगंध चतुर्दिक गमकी,

आशीष-वचन कहने को
मधुपों की जिह्वा डोली,
गूँजी मदिरालय-भर में
लो, 'जियो, जियो' की बोली !

(५)

दो दौर न चल पाए थे
इस तृष्णा के आँगन में,
डूबा मदिरालय सारा
मतवालों के क्रंदन में !

यमदूत द्वार पर आया
ले चलने-का परवाना !

गिर-गिर टूटे घट-प्याले,
बुझ दीप गए सब क्षण में !

सब चले किए सिर नीचे
ले अरमानों की झोली !
गूँजी मदिरालय-भर में
लो, 'चलो, चलो' की बोली !

पग-ध्वनि

(१)

पहचानी वह पग-ध्वनि मेरी,
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

नंदन-वन में उगनेवाली
मेंहदी जिन तलवों की लाली
बनकर भू पर आई, आली !

मैं उन तलवों से चिर परिचित,
मैं उन तलवों का चिर ज्ञानी !
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

(२)

ऊषा ले अपनी अरुणाई,
ले कर-किरणों की चतुराई,
जिनमें जावक रचने आई,
मैं उन चरणों का चिर-प्रेमी,
मैं उन चरणों का चिर-ध्यानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

(३)

उन मृदु चरणों का चुंबन कर
ऊसर भी हो उठता उर्वर,
तृण-कलि-कुसुमों से जाता भर,
मरुथल मधुवन बन लहराते,
पाषाण पिघल होते पानी!
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

(४)

उन चरणों की मंजुल उँगली
पर नख-नक्षत्रों की अवली,
जीवन के पथ की ज्योति भली,
जिसका अवलंबन कर जग ने
सुख-सुषमा की नगरी जानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

(५)

उन पद-पद्मों के प्रभ रजकण
का अंजित कर मंत्रित अंजन
खुलते कवि के चिर-अंध नयन !

तम से आकर उर में मिलती
स्वप्नों की दुनिया की रानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

(६)

उन सुंदर चरणों का अर्चन
करते आँसू से सिंधु-नयन !
पद-रेखा में उच्छ्वास पवन

देखा करता अंकित अपनी
सौभाग्य सुरेखा कल्याणी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

(७)

उन चल चरणों की कल छम-छम
से ही था निकला नाद प्रथम,
गति से, मादक तालों का क्रम,

संगीत जिसे सारे जग ने
अपने सुख को भाषा मानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

(८)

हो शांत, जगत के कोलाहल !
रुक जा, री जीवन की हलचल !
मैं दूर पड़ा सुन लूँ दो पल,
संदेश नया जो लाई है,
यह चाल किसी की मस्तानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी ?

(६)

किसके तमपूर्ण प्रहर भागे ?
किसके चिर-सोए दिन जागे ?
सुख-स्वर्ग हुआ किसके आगे ?
होगी किसके कंपित कर से
इन शुभ चरणों की अगवानी ?
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

(१०)

बढ़ता जाता घुँघरू का रव ;
क्या यह भी हो सकता संभव ?
यह जीवन का अनुभव अभिनव !
पद-चाप शीघ्र, पग-राग तीव्र !
स्वागत को उठ, रे कवि मानी !
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

(११)

ध्वनि पास चली मेरे आती,
सब अंग शिथिल पुलकित छाती,
लो, गिरतीं पलकें मदमाती,

पग को परिरंभण करने की,
पर, इन भुज-पाशों ने ठानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

(१२)

रव गूँजा भू पर, अंबर में,
सर में, सरिता में, सागर में,
प्रत्येक श्वास में, प्रति स्वर में,

किस-किसका आश्रय ले फैले,
मेरे हाथों की हैरानी!
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

(१३)

ये ढूँढ रहे ध्वनि का उद्गम,
मंजीर-मुखर-युत पद निर्मम,
है ठौर सभी जिनकी ध्वनि सम,

इनको पाने का यत्न वृथा,
श्रम करना केवल नादानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

(१४)

ये कर नभ-जल-थल में भटके,
आकर मेरे उर पर अटके,
जो पग-द्वय थे अंदर घटके,
थे ढूँढ रहे उनको बाहर
ये युग कर मेरे अज्ञानी!
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

(१५)

उर के ही मधुर अभाव चरण
बन करते स्मृति-पट पर नर्तन,
मुखरित होता रहता बन-बन
मैं ही उन चरणों में नूपुर,
नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी!
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी!

आत्म-परिचय

मैं जग-जीवन का भार लिए फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ;
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर,
मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ!

मैं स्नेह-सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ;
जग पूछ रहा उनको, जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ!

मैं निज उर के उद्‌गार लिए फिरता हूँ,
मैं निज उर के उपहार लिए फिरता हूँ;
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ!

मैं जला हृदय में अग्नि दहा करता हूँ,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ;
जग भव-सागर तरने ने नाव बनाए,
मैं मन-मौजों पर मस्त बहा करता हूँ!

मैं यौवन का उन्माद लिए फिरता हूँ,
उन्मादों में अवसाद लिए फिरता हूँ;
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मैं, हाय, किसी की याद लिए फिरता हूँ!

कर यत्न मिटे सब, सत्य किसी ने जाना?
नादान वहीं है, हाय, जहाँ पर दाना!
फिर मूढ़ न क्या जग, जो इसपर भी सीखे,
मैं सीख रहा हूँ, सीखा ज्ञान भुलाना!

मैं और, और, जग और, कहाँ का नाता!
मैं बना-बना कितने जग रोज़ मिटाता!
जग जिस पृथ्वी पर जोड़ा करता वैभव,
मैं प्रति पग से उस पृथ्वी को ठुकराता!

मैं निज रोदन में राग लिए फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिए फिरता हूँ;
हों जिसपर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिए फिरता हूँ!

मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना!
मैं फूट पड़ा, तुम कहते, छंद बनाना!
क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए,
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना!

मैं दीवानों का वेश लिए फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिए फिरता हूँ;
जिसको सुनकर जग झूम, झुके, लहराए,
मैं मस्ती का संदेश लिए फिरता हूँ!

समाप्त

बच्चन की

अन्य प्रकाशित रचनाओं का विवरण

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

आकुल अंतर

(बच्चन की नवीनतम रचना)

यह कवि की १९४०-४२ में लिखित ७१ गीतों का संग्रह है। कवि को अपनी पिछली रचना 'एकात संगीत, लिखते समय आभास हुआ था कि उसकी कई कविताएँ आंतरिक अशांति को व्यक्त न करके बाह्य विह्वलता को मुखरित करती हैं। इस कारण भविष्य में उन्होंने अपने गीतों को 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' दो मालाओं में रख-कर आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विक्षुब्धता को अलग अलग वाणी देने का निश्चय किया था। दोनों मालाओं के गीत इन तीन वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इस पुस्तक में कवि ने 'आकुल अंतर' माला के अंतर्गत लिखित ७१ गीतों को संगृहीत किया है।

'एकांत संगीत' से 'आकुल अंतर' में कितना परिवर्तन आया है यह केवल इस बात से प्रकट हो जायगा कि 'एकांत संगीत' का अंतिम गीत था 'कितना अकेला आज मैं' और 'आकुल अंतर' का अंतिम गीत है 'तू एकाकी तो गुनहगार'। भावों की किन-किन अवस्थाओं में यह परिवर्तन आया है, इसे देखना हो तो 'आकुल अंतर' पढ़िए।

छंद और तुक के बंधनों से मुक्त केवल लय के आधार पर लिखे गए कुछ गीत हिंदी के लिए सर्वथा नवीन और सफल प्रयोग हैं।

—लीडर प्रेस, इलाहाबाद

एकांत संगीत

(दूसरा संस्करण)

यह कवि की १९३८-३९ में लिखित एक सौ गीतों का संग्रह है। देखने में यह गीत 'निशा निमंत्रण' के गीतों की शैली में प्रतीत होते हैं, परंतु पद, पंक्ति, तुक, मात्रा आदि में अनेक स्थानों पर स्वतंत्रता लेकर कवि ने इनकी एक-रूपता में भी विभिन्नता उत्पन्न की है।

कवि ने जिस एकाकीपन का अनुभव निशा निमंत्रण में मुखरित किया था उसकी यहाँ चरम सीमा पहुँच गई है। 'कल्पित साथी' भी साथ में नहीं है। कवि के हृदय में वेदना इतनी घनीभूत हो गई है कि उसे बताने के लिए वातावरण की सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती। गीतों का क्रम रचना-क्रम के अनुसार होने से कवि की भावनाओं का जैसा स्वाभाविक चित्र यहाँ आपको मिलेगा वैसा और किसी कृति में नहीं।

कवि ने जीवन के एकांत में क्या देखा, क्या अनुभव किया, क्या सोचा, यदि इसे जानना चाहते हैं तो एकांत संगीत को लेकर एकांत में बैठ जाइए।

दूसरा संस्करण नए ठाट-बाट से छपकर तैयार है।

—लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निशा निमंत्रण

(तीसरा संस्करण)

यह कवि की १९३७-३८ में लिखित एक कहानी और एक सौ गीतों का संग्रह है। 'निशा निमंत्रण' के गीतों से बच्चन की कविता का एक नया युग आरंभ होता है। १३-१३ पंक्तियों में लिखे गए ये गीत विचारों की एकता, गठन और अपनी संपूर्णता में अंग्रेज़ी के सॉनेट्स की समता करते है।

'निशा निमंत्रण' के गीत सायंकाल से आरंभ होकर प्रातःकाल समाप्त होते हैं। रात्रि के अंधकारपूर्ण वातावरण से अपनी अनु-भूतियों को रंजित कर बच्चन ने गीतों की जो शृंखला तैयार की है वह आधुनिक हिंदी साहित्य के लिए सर्वथा मौलिक वस्तु है। गीत एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि यह सौ गीतों का संग्रह न होकर सौ गीतों का एक महागीत है, शत दलों का एक शतदल है।

एक ओर तो इनमें प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है दूसरी ओर ह प्राकृतिक दृश्य के साथ कवि की भावनाओं का ऐसा संबंध दिखाय गया है मानो कवि की भावनाएँ स्वयं उन प्राकृतिक दृश्यों में स्थू रूप पा गई हैं। सूर्यास्त के साथ कवि की आशाएँ टूट गई हैं। रात अंधकार में कवि का शोक छा गया है। प्रभात की अरुणिमा में भवि का संकेत कर कवि ने विदा ले ली है।

इसका सौंदर्य देखना हो तो शीघ्र ही अपनी प्रति मँगा लीजिए।

—लीडर प्रेस, इलाहाब

मधु कलश

(तीसरा संस्करण)

यह कवि की १९३५-३६ में लिखित 'मधुकलश', कवि की वासना', 'सुषमा', 'कवि की निराशा', 'री हरियाली', 'कवि का गीत', 'पथ भ्रष्ट', 'कवि का उपहास', 'माँझी', 'लहरों का निमंत्रण', 'मेघदूत के प्रति' और 'गुलहज़ारा' शीर्षक कविताओं का संग्रह है।

आधुनिक समय में समालोचकों द्वारा बच्चन की कविताओं का जितना विरोध हुआ है संभवतः उतना और किसी कवि का नहीं हुआ। उन्होंने अपने विरोधियों की कटु आलोचनाओं का उत्तर कभी नहीं दिया परंतु उससे जो उनकी मानसिक प्रतिक्रिया हुई है उसे अवश्य काव्य में व्यक्त किया है। उत्तर प्रत्युत्तर में जो बात कटु हो जाती वही कविता में किस प्रकार मधुर हो गई है, 'मधु कलश' की अधिकांश कविताएँ इसका प्रमाण हैं। कवि ने चारों ओर के आक्रमण के बीच किन भावनाओं और विचारों से अपनी सत्ता को स्थिर रक्खा है उसे देखना हो तो आप 'मधु कलश' की कविताएँ पढ़िए। इनके अन्दर साहित्य के आलोचकों को ही नहीं जीवन के आलोचकों को भी उत्तर है, कवि के लिए ही नहीं मानवता के लिए भी संदेश है।

इसी पुस्तक के विषय में विश्वमित्र में लिखा था, 'बच्चन जी की कविताएँ पढ़ते समय हमें इस बात की प्रसन्नता होती है कि हिंदी का यह कवि मानवता का गीत गाता है।

—लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुशाला

(पाँचवा संस्करण)

यह कवि की १९३३-३४ में लिखित १३५ रुबाइयों का संग्रह है। हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला के केवल चार प्रतीकों और इन्हीं से मिलने वाले कुछ गिनती के तुकों को लेकर बच्चन ने अपने कितने भावों और विचारों को इन रुबाइयों में भर दिया है इसे वे ही जानते हैं जिन्होंने कभी मधुशाला उनके मुँह से सुनी या स्वयं पढ़ी हैं। आधुनिक खड़ी बोली की कोई भी पुस्तक मधुशाला के समान लोकप्रिय नहीं हो सकी इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। अब समालोचकों ने स्वीकार कर लिया है कि मधुशाला में सौंदर्य के माध्यम से क्रांति का ज़ोरदार संदेश दिया गया है।

कवि ने इसे रुबाइयात उमर ख़ैयाम का अनुवाद करने के पश्चात् लिखा था इस कारण वे उसके बाहरी रूपक से प्रभावित अवश्य हुए हैं परंतु यह भीतर से सर्वथा स्वानुभूत और मौलिक रचना है जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक भारतीय युवक के हृदय ने होती है।

भाव, भाषा, लय और छंद एक दूसरे के इतने अनुरूप बन पड़े हैं कि हिंदी से अपरिचित व्यक्ति भी उसका वैसा ही आनंद लेते हैं जैसा कि हिंदी से सुपरिचित व्यक्ति। आज ही इसे लेकर बैठ जाइए और इसकी मस्ती से झूम उठिए।

—लीडर प्रेस, इलाहाबाद

ख़ैयाम की मधुशाला

(दूसरा संस्करण)

यह फिट्ज़जेराल्ड कृत रुबाइयात उमर ख़ैयाम का पद्यात्मक हिंदी रूपांतर हैं जिसे कवि ने सन् १९३३ में उपस्थित किया था। मूल पुस्तक के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसकी गणना संसार की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में है। अनुवाद में प्रायः मूल का आनंद नहीं आता, परंतु बच्चन के अनुवाद में कहीं आपको यह कमी न दीख पड़ेगी। वे एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रखने के फेर में नहीं पड़े। उन्होंने उमर ख़ैयाम के भावों को ही प्रधानता दी है। इसी कारण उनकी यह कृति मौलिक रचना का आनंद देती है।

स्वर्गीय प्रेमचंद ने जनवरी '३६ के 'हंस' में पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि 'बच्चन ने उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद नहीं किया; उसी रंग में डूब गए हैं।' हिंदी में पुस्तक के और अनुवाद भी हैं पर 'लीडर' ने स्पष्टतया लिखा था कि:—

Bachchan has a great advantage over many translators in that he himself feels, for all we know very much like the poet astronomer of Nishapur.

दूसरे संस्करण में मूल अंग्रेज़ी अनुवाद भी दिया गया है।

—लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

तेरा हार

(तीसरा संस्करण)

यह कवि की सन् १९२९-३० में लिखित, स्वीकृत, आशे, नैराश्य कीर, झंडा, बंदी, बंदी मित्र, कोयल, मध्याह्न, चुंबन, मधुकर दुख में, दुखों का स्वागत, आदर्श प्रेम, तुमसे, मधुरस्मृति, दुखिय का प्यार, कलियों से, विरह-विषाद, मूक प्रेम, उपहार, मेरा धर्म संकोच, प्रेम का आरंभ, आत्म संदेह, जन्म दिवस शीर्षक कविता का संग्रह है।

यद्यपि यह बच्चन की सर्व प्रथम कृति है, फिर भी सभी पत्र पत्रिकाओं ने इसकी प्रशंसा की है। बच्चन की कविताओं का क्रम विका समझने के लिए इसे देखना बहुत आवश्यक है। किसी कवि व अंतिम कृतियाँ ही उसकी उच्चता का आभास देती हैं, परंतु कवि कहाँ से प्रारंभ करके वह उच्चता प्राप्त की इसे उसकी आरंभि रचनाएँ ही बतला सकती हैं।

'विश्वमित्र' ने इसके विषय में लिखा था, 'इसके रचयि महोदय का नाम यद्यपि हम हिंदी में प्रथम बार देख रहे हैं तथा कविताएँ पढ़ने से मालूम होता है कि वे इस कला में सिद्ध-हस्त है कविताएँ सुंदर और सरस हैं और भाव यथेष्ट परिपक्व हैं।'

—लीडर प्रेस, इलाहाबा